सन्मति-सन्देश



सम्पादक—
मुनि श्री अखिलेशचन्द्र जी महाराज
मुनि सुरेशचन्द्र, शास्त्री "साहित्यरत्न"



सन्मति ज्ञान पीठ, आगरा



३,
प्रकाशक—
रतनलाल जैन मीतल
मंत्री, सन्मति ज्ञान पीठ,
लोहा मण्डी, आगरा

मूल्य
सजिल्द बारह आना
अजिल्द आठ आना

मुद्रक
बालकृष्ण बन्सल
बन्सल प्रेस, आगरा

क्यों और किस लिए ?

ज्ञान विज्ञान के इस युग में हर चीज का बारीकी से विश्लेषण हो रहा है। विश्लेषण और बुद्धिवाद की कसौटी पर जो चीज खरी नहीं उतर पाती उस अज्ञान में भी युग की सजेज आँखें अब आनाकानी करने लगी हैं। धर्म का तत्त्व भी इस परीक्षणात्मक क्रान्ति से अछूता नहीं रह पाया। धर्म को भी आज बौद्धिक कसौटी पर कसते हुए देखा जाता है कि—"समभाव, समन्वय, अहिंसात्मक उत्प्रेरणा आदि वाले और अनेकान्तवाद का वह कहाँ तक समर्थक है? धरती पर धू धू करके लपलपाती हुई वैषम्य तथा रंग भेद की आग को बुझाने में वह कहाँ तक योग दान दे सकता है? विश्व शान्ति तथा जन उत्थान का वह कहाँ तक पोषक है?

सन्मति-महावीर का संदेश इस बौद्धिक निरीक्षण परीक्षण का हृदय से स्वागत करता है, क्योंकि बुद्धिवाद और अनेकान्तवाद ही उसके मूलाधार हैं। स्वयं भगवान महावीर से जब पूछा गया कि धर्म-तत्त्व का निर्णय करने के लिए हम कौन-सा गज लेकर चलें, तो उन्होंने गम्भीर मुद्रा में यही उद्घोष किया था कि—'धर्म-तत्त्व का विनिश्चय मनुष्य की अपनी प्रज्ञा-शुद्ध बुद्धि ही करती है —

'पन्ना समिक्खए धम्मं, तत्तं तत्त विणिच्छियं।'

इस पर से यह तथ्य दिन के उजाले की तरह साफ हं
ता है कि सम्मति-सन्देश में मनुष्य का स्वतंत्र चिन्तनिक
खुला अवकाश है।

इसके अतिरिक्त भगवान महावीर के ज्योतिर्मय सन्देश
मानवीयचेतना की समानता सार्वजनीनता और सार्वभौमत
प्रकाश अठखेलियाँ कर रहा है। वह किसी सम्प्रदाय
ाति या वर्ग की बपौती नहीं प्रत्युत मानवमात्र की सम्पत्ति
। उसकी दृष्टि में मनुष्य, मनुष्य है और कुछ नहीं। इ
कार विशद बुद्धिवाद और अपरिग्रहवाद की मूलभित्ति पर खड़ा
ले के कारण भगवान महावीर का सन्देश आज के युग के
मय विशेष रीति से अनुकूल है।

अब प्रस्तुत पुस्तक पर ! 'सम्मति ज्ञान पीठ' की ओर से
न् १९५३ की सम्मति डायरी का प्रकाशन होने लगा तो
िक सम्पादन के दायित्व को निभाने के लिए मुझे सम्मति
ावीर के कुछ ज्ञानदायी वचनों का चयन करना पड़ा
ा। जनता ने उस चुनी हुई पूंजी को बड़ा ही पसन्द
किया। जनता की इस पसन्दगी से आप्यायित होकर
न में विचार आया कि— क्यों न इस ज्ञान की अमूल्य
ूंजी को थोड़ा परिष्कार और वर्गीकरण का रूप देकर एक

छोटी-सी पुस्तिका की तिजौरी में सुरक्षित रख लिया जाय। जिससे स्वाध्याय प्रेमी सज्जनों के लिए एक स्थायी चीज बन सके।' 'सन्मति-सन्देश' इसी सद्विचार का मूर्त रूप है।

आज का मानव पार्थिव एषणाओं और भौतिक पिपासाओं की मरुमरीचिका के पीछे अंधाधुंध दौड़ रहा है। उसे नहीं पता इस अविश्रान्त दौड़ का लक्ष्य बिंदु क्या है। उसे नहीं मालूम मेरी मंजिल क्या है। वह दौड़ दौड़ कर हाँफ रहा है, पर फिर भी दौड़े ही जा रहा है!

ऐसे लक्ष्य हीन मानव को 'सन्मति-सन्देश' जीवन की सच्ची राह का बोलता हुआ सन्देश देगा, कुछ देर ठहर कर अपनी स्थिति पर सोचने के लिए मजबूर करेगा। और समझ में आने वाली भाषा में कहेगा—'अपने आप को पहचानो। जीवन-तत्त्व को परखो।

यदि अपने नए आलोक से 'सन्मति-सन्देश' जन-मन में जैन-वाङ्मय के सरोवर में अवगाहन करने की थोड़ी भी लालसा जगा सका, तो मैं समझूंगा, इस प्रयास का श्रम सफल हो गया।

नव वर्ष, जनवरी
१९६३ आगरा

मुरारी मुनि "साहित्यरत्न"

कहाँ क्या है ?

सन्मति महावीर

उपाध्याय श्री अमर मुनि जी

आइए, ज़रा अपनी स्मृति को पुराने भारत में ले चलें।
कितने पुराने भारत में ?

यही करीब पचीस शताब्दी पुराने में। 'बहुत अच्छा।'

अरे रे यह क्या हो रहा है! लाखों मूक पशुओं की लाशें यज्ञ की बलि-वेदी पर तड़प रही हैं। भोले भाले मासूम शिशु और पकी आयु के वृद्ध भी देव पूजा के भ्रम में मौत के घाट उतारे जा रहे हैं। शूद्र भी तो मनुष्य हैं। इन्हें क्यों मनुष्यता के सर्व-सामान्य अधिकारों से भी वंचित कर दिया गया है? मातृ-जाति का इतना भयङ्कर अपमान! सामाजिक [illegible] दासता के सिवा और कोई काम ही नहीं! प्रत्येक नदी-नाला, प्रत्येक ईंट पत्थर, प्रत्येक झाड़ झंखाड़ देवता बना हुआ है। और मूर्ख मानव-समाज अपने महान् व्यक्तित्व को भुलाकर इनके आगे दीन भाव से अपना उन्नत मस्तक रगड़ता फिर रहा है। आध्यात्मिक और सांस्कृतिक पतन का इतना भयङ्कर दृश्य!

जी हाँ यह ऐसा ही दृश्य है। आप देख नहीं रहे हैं यह आज से पचीस शताब्दी पुराना भारत है, और ये सब लोग उस पुराने भारत के निवासी हैं। आज भी इनके जीवन की झांकी पुराण और वेदों के पृष्ठों पर अङ्कित है।

क्या इस युग में भारत का कोई उद्धारकर्त्ता न हुआ? क्या कोई इन धर्मान्ध लोगों को समझाने-बुझाने वाला न मिला? अंध विश्वास की इस प्रगाढ़ अन्धकार पूर्ण काल रात्रि में ज्ञान-सूर्य का उज्ज्वल आलोक फैलाने वाला क्या कोई महापुरुष अवतरित न हुआ?

अवश्य हुआ।

कौन?

स ामि महावीर।

प्रकृति का यह अटल नियम है कि जब अत्याचार अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है अधर्म धर्म का बाना पहन कर जनता को भ्रम-बन्धन में बाँध लेता है तब कोई न कोई महापुरुष समाज राष्ट्र एवं विश्व का उद्धार करने के लिए जन्म लेता ही है। भारतवर्ष की तत्कालीन दयनीय मा किसी महापुरुष के अवतरण की प्रतीक्षा कर रही

थी। अत भगवान् महावीर की आत्मा ने भारत के उद्धार के लिये मगध प्रदेशवर्ती वैशाली नगरी (कुण्डनपुर) के × × राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला के यहाँ जन्म ग्रहण किया। भारत के इतिहास में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी का वह पवित्र दिन है, जो लाखों वर्षों तक अजर अमर बना रहेगा। भगवान् महावीर के जन्म दिन मनाने का सौभाग्य इसी पवित्र दिन को प्राप्त हुआ है।

महावीर राजकुमार थे। सब प्रकार का सांसारिक सुख वैभव चारों ओर बिखरा पड़ा था। विवाह हो चुका था। अपने समय की अनुपम सुन्दरी राजकुमारी यशोदा धर्म-पत्नी के रूप में प्रेम पुजारिणी बनी हुई थी। दुःख क्या होता है? कुछ भी पता न था। यह सब कुछ था। परन्तु महावीर का हृदय फिर भी कुछ अनमना-सा, उदास-सा रहता था। भारत का धार्मिक तथा सामाजिक पतन उन्हें बेचैन किए हुए था। क्रान्ति की प्रचण्ड ज्वाला अन्दर ही अन्दर धधक रही थी। हृदय मन्थन चलता रहा। दो वर्ष तक गृहस्थ जीवन में ही तपस्वियों जैसी उग्र साधना का [illegible] चलता [illegible] वर्ष की भरी जवानी में

शीर्ष कृष्ण दशमी के दिन मगध का विशाल साम्राज्य-लक्ष्
को ठुकरा कर वे पूर्ण अकिंचन भिक्षु के रूप में निर्जन व
की ओर चल पड़े ।

प्रश्न हो सकता है कि भगवान् महावीर ने भिक्षु होते ही उ
देश की गगधारा क्यों न बहाई? बात यह है कि महावीर आज
के साधारण सुधारकों जैसी मनोवृत्ति न रखते थे कि जो कु
मन में आए, कर पर कर डालो, करने धरने को कुछ नहीं
उनकी तो यह धारणा थी कि 'जब तक नेता अपने आ
को न सुधार ले अपनी दुर्बलताओं पर विजय प्राप्त न क
ले तब तक वह प्रचार-क्षेत्र में कभी भी सफलता प्राप्त न
कर सकता।" महावीर इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए बा
वर्ष तक कठोर तप-साधना करते रहे। मानव-समाज
प्रायः अलग थलग जंगलों में पर्वतों की गुफाओं में रह क
आत्मा की अनन्त प्रसुप्त आध्यात्मिक शक्तियों को जगा
ही उन दिनों उनका एक-मात्र कार्य था। एक
मनोमोहक प्रलोभन आँखों के सामने से गुजरे एक से-ए
भयङ्कर आपत्तियों ने चारों ओर चक्कर काटा परन्तु भगव

जिन घटनाओं के पठन-मात्र से हमारे रोंगटे खड़े हो जाते हैं, वे प्रत्यक्ष रूप में जिस जीवन पर से प्रवाहित हुई होंगी, वह कितना महान् होगा ? हमारी कल्पना कुण्ठित हो जाती है।

अहिंसा और सत्य की पूर्ण साधना के बल से जीवन की समस्त कालिमा धुल चुकी थी, पवित्रता और स्वच्छता की अमिट रेखाएँ प्रस्फुटित हो चुकी थीं, आत्मा की अनन्त ज्ञान-ज्योति जगमगा उठी थी, अतः वैशाख शुक्ला दशमी के दिन भगवान् महावीर केवल ज्ञान और केवल दर्शन का आवरण प्रकाश प्राप्त कर तीर्थंकर पद के अधिकारी हुए। जैन धर्म की मान्यता के अनुसार कोई भी मनुष्य जन्म से भगवान् नहीं होता। भगवत्पद की प्राप्ति के लिए निरन्तर साधनाओं के पथ पर चलना होता है, जीवन के चारों ओर सदाचार के कठोर नियमों का अभेद्य प्राकार खड़ा करना होता है तब कहीं मनुष्य भगवत्पद का अधिकारी होता है। भगवान् महावीर का जीवन हमारे समक्ष आध्यात्मिक विकास का एक बहुत बड़ा आदर्श उपस्थित करता है।

भगवान् महावीर को ज्यों ही केवल-ज्योति के दर्शन हुए, त्यों ही वे अपने एकान्त जीवन को वनों में से खींचकर

मानव-समाज में ले आए। मानव-समाज में आकर आपने मानव-जगत् की चेतना मानवता को विकसित करने का प्रबल आंदोलन चालू किया। तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक भ्रान्त रूढ़ियों के प्रति आपने बड़ा सबल आक्रमण किया कि अन्धविश्वासों के दुर्ग हुए ढह कर भूमिसात् होने लगे। भारत में चारों ओर क्रान्ति का ज्वालामुखी फट पड़ा। धर्म-गुरुओं के दाम्भिकता पर चिर प्रतिष्ठित स्वर्ण सिंहासन हिल उठे! आप का विरोध भी बड़े जोरों से हुआ। प्राचीनता के पुजारियों ने प्रचलित परम्पराओं की रक्षा के लिए भी तीव्र प्रयत्न किए, मन-माने आक्षेप भी किए, परन्तु महापुरुष आपत्तियों की बाधाओं से क्या कभी रुका करते हैं। वे तो अपने निश्चित पथ पर प्रतिक्षण आगे ही आगे बढ़ते रहते हैं और अन्त में सफलता के सिंह द्वार पर पहुँच कर ही विश्राम लेते हैं।

भगवान् महावीर के आचरण मूलक धर्मोपदेश ने भारत की काया पलट कर दी। यज्ञ मूलक हिंसक विधि विधानों में लगे हुए बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् भी भगवान के चरणों के पुजारी बन गए। इन्द्रभूति गौतम जो अपने समय के एक

दार्शनिक, साथ ही-साथ क्रियाकाण्डी ब्राह्मण माने
। पावापुर में विशाल यज्ञ की आयोजना कर रहे थे।
की पहली टक्कर इन्हीं के साथ हुई। गौतम पर
क अनन्त ज्ञान प्रकाश एवं अखण्ड तत्त्वज्ञ का
गहरा प्रभाव पड़ा, कि वे सदा के लिए यज्ञ-वाद का
ाकर भगवत्पद कमलों में दीक्षित हो गये। इनके
ही चार हजार चार सौ (४४००) अन्य ब्राह्मण
न से भगवान् के पास मुनि-दीक्षा धारण की।
.क अहिंसा धर्म की यह सर्व प्रथम विजय थी,
भारत की चिर निद्रित आँखें खोल दीं। उक्त घटना
भगवान् जहाँ भी पधारे, धर्म जिज्ञासु जनता समुद्र
वे भगवान् की ओर उमड़ती चली गई।
गवान् महावीर मातृ-जाति के प्रति भी बड़े उदार
रखते थे। उनका कहना था कि पुरुष के समान ही
भी धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में बराबर
धिकार है। स्त्री-जाति को हीन एवं पतित समझना
चित है। अतएव भगवान् ने भिक्षु-संघ के समान
यों का भी एक संघ बनाया, जिसकी अधिनत्री

मानव-समाज में ले आए। मानव-समाज में आकर आपने मानव-जगत् की मलिन मानवता को विकसित करने का प्रबल आन्दोलन चालू किया। तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक भ्रान्त रूढ़ियों के प्रति आपने बड़ा सबल आक्रमण किया कि अन्धविश्वासों के सुदृढ़ दुर्ग धड़ाधड़ कर भूमिसात होने लगे। भारत में चारों ओर क्रान्ति का ज्वालामुखी फट पड़ा। धर्म-गुरुओं के दाम्भिकता पर चिर प्रतिष्ठित स्वर्ण सिंहासन हिल उठे। आप का विरोध भी बड़े जोरों से हुआ। प्राचीनता के पुजारियों ने प्रचलित परम्पराओं की रक्षा के लिए जी तोड़ प्रयत्न किए, मनमाने आक्षेप भी किए, परन्तु महापुरुष आपत्तियों और बाधाओं से क्या कभी रुका करते हैं। वे तो अपने निश्चित ध्येय पर प्रतिपल आगे ही आगे बढ़ते रहते हैं और अन्त में सफलता के सिंह द्वार पर पहुँच कर ही विश्राम लेते हैं।

भगवान् महावीर के आचरण मूलक धर्मोपदेश ने भारत का कायापलट कर दिया। वर्ण मूलक [illegible] विधि विधानों में लगे हुए बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् भी भगवान् के चरणों के [illegible] बन गए। इन्द्रभूति गौतम, जो अपने समय के एक

धुरंधर दार्शनिक, साथ ही-साथ क्रियाकाण्डी ब्राह्मण माने जाते थे, पावापुर में विशाल यज्ञ की आयोजना कर रहे थे। भगवान् की पहली टक्कर इन्हीं के साथ हुई। गौतम पर भगवान् के अनन्त ज्ञान प्रकाश एवं अखण्ड तपस्तेज का यह विलक्षण प्रभाव पड़ा, कि व सदा के लिए यज्ञ-वाद का पक्ष त्यागकर भगवान् के श्रमण संघ में दीक्षित हो गये। इनके साथ ही चार हजार चार सौ (४४००) अन्य ब्राह्मण विद्वानों ने भी भगवान् के पास मुनि-दीक्षा धारण की। भगवान् के अहिंसा धर्म की यह सबसे पहली विजय थी, जिसने भारत की चिर निद्रित आँखें खोल दीं। उक्त घटना के बाद भगवान् जहाँ भी पधारे, धर्म पिपासु जनता समुद्र की भाँति भगवान् की ओर उमड़ती चली गई।

भगवान् महावीर मातृ जाति के प्रति भी बड़े उदार विचार रखते थे। उनका कहना था कि 'पुरुष के समान ही स्त्री को भी प्रत्येक धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में बराबर का अधिकार है। स्त्री-जाति को हीन एवं पतित समझना निरी भ्रान्ति है।' अतएव भगवान् ने भिक्षु-संघ के समान भिक्षुणियों का भी एक संघ बनाया, जिसकी अधिनेत्री

चन्दनबाला थी, जो अपने संघ की सब प्रकार की देख रेख स्वतन्त्र रूप से किया करती थीं। भगवान् महावीर के संघ में जहाँ भिक्षुओं की संख्या १४ हजार थी, वहाँ भिक्षुणियों की संख्या ३६ हजार थी। श्रावकों की संख्या १ लाख ५० हजार थी तो श्राविकाओं की संख्या ३ लाख कुछ हजार थी। स्त्री-जाति के प्रति भगवान् के धर्म प्रवचन में कितना महान् आकर्षण था इसकी स्पष्ट झलक ऊपर की संख्याओं पर से मिल सकती है।

तत्कालीन शूद्र जातियों को भी भगवान् के द्वारा बड़ा सहारा प्राप्त हुआ। भगवान् जहाँ भी गये वहाँ सर्वप्रथम एक ही सन्देश लेकर गये कि—"मनुष्य जाति एक है उसमें जात पाँत की दृष्टि से विभाग की कल्पना करना किसी प्रकार भी उचित नहीं।" ऊँच नीच के सम्बन्ध में भगवान् के विचार कर्म मूलक थे जाति मूलक नहीं। भगवान् आजकल के उपदेशकों के समान मात्र उपदेश देकर ही रह गये हों यह बात नहीं। हरिकेशी जैसे चाण्डाल को अपने भिक्षु संघ में सम्मानपूर्ण अधिकार देकर उन्होंने जो कुछ कहा वह करके भी दिखा दिया। आगम साहित्य में एक भी उदाहरण ऐसा

नहीं मिलता, वहाँ भगवान् किसी राजा-महाराजा अथवा
ब्राह्मण-क्षत्रिय के महलों में विराजे हों। हाँ, पोलासपुर
सद्दाल कुम्हार के यहाँ विराजना उनकी पतित पावनता
एक उज्ज्वल आदर्श है।

भगवान् के जीवन के सम्बन्ध में क्या कुछ कहा जाय
उनका जीवन एकमुखी नहीं, सर्वतोमुखी था। हम उ
किसी एक ही दिशा में बन्द नहीं पाते प्रत्युत जिस
में भी देखते हैं वह सरस आगे और आगे दिखलाई
हैं। आगम-साहित्य तथा तत्कालीन अन्य साहित्य पर
पात कर जाइये। आप भगवान् महावीर को कहीं विला
राजाओं को अत्याचार से हटाते पायेंगे, तो कहीं दीन-
गृहस्थों को पापाचार से बचाते पायेंगे। कहीं भिक्षुओं
लिये वैराग्य का समुद्र बहाते पायेंगे, तो कहीं गृहस्थों के
नीति मूलक शिक्षायें देते पायेंगे। कहीं गणधर गौतम
शिष्यों पर प्रेम की अमृत-वर्षा करते पायेंगे तो कहीं उ
को गलती कर देने के अपराध में फटकार बताते पायेंगे
मतलब यह है कि भगवान् को जहाँ भी कहीं जिस किसी
रूप में पाते हैं, अलौकिक एवं अद्भुत रूप में पाते हैं।

— चिन्तन कण —

★ धर्म के साथ लड़ना भी आनन्द है, पर दुराचार बन का मार खाते रहना शर्म की बात है।

★ मानव-जीवन के विकास के लिये कठोरता और मृदुता दोनों ही आवश्यक हैं। अपने प्रति कठोर और दूसरों के प्रति मृदु रहो।

★ संयम और तप—यही भगवती अहिंसा के दो पैर हैं।

★ अति दूर देखना और बिल्कुल न देखना—ये दोनों ठोकर लगने के उपाय हैं।

★ भय कहीं नहीं हो सकता यदि चाह न हो। भय का कारण है चाह। वास्तव भय और चाह एक ही मान सिक्का के दो पार्श्व हैं।

★ जैसे सूर्य में धब्बा देखने के लिए काजल लगे हुए शीशे की आवश्यकता होती है। इसी तरह किसी में दोष देखने के लिए ईर्ष्या या दुराग्रह की कालिमा अपेक्षित है।

★ पतंग को चढ़ाना कठिन है, नीचे खींच लेना सहज। मन को भी उन्नत बनाना कठिन, अवनत करना सहज।



सन्मति-सन्देश



५

अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ।
अप्पाणमेव अप्पाणं, जइत्ता सुहमेहए॥

—उत्तराध्ययन

६

अप्पा हु खलु सययं रक्खियव्वो
सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ
सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ॥

—दशवैकालिक

७

संबुज्झह किं न बुज्झह संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमंति राइओ नो सुलभं पुणरावि जीवियं॥

—सूत्रकृतांग

८

सव्वभूयप्पभूयस्स सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहियासवस्स दंतस्स पावं कम्मं न बंधइ॥

—दशवैकालिक

५

अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध करना चाहिए। बाहरी शत्रुओं के साथ युद्ध करने से क्या लाभ? आत्मा के द्वारा आत्म-जयी ही वास्तव में पूर्ण सुखी होता है।

६

समस्त इन्द्रियों को अच्छी तरह समाहित करके पाप से अपनी आत्मा की निरन्तर रक्षा करते रहना चाहिए। पापों से अरक्षित आत्मा संसार में भटका करता है, और सुरक्षित आत्मा सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।

७

मनुष्य! जागो, जागो, अरे तुम क्यों नहीं जागते? परलोक में सम्बोधि प्राप्त होना दुर्लभ है। बीती हुई रात्रियाँ कभी लौट कर नहीं आतीं। मानव जीवन पुनरपि पाना आसान नहीं।

८

जो प्राणी-मात्र को आत्मवत् समझता है, आत्म-भाव से सबको समान दृष्टि से देखता है, निराश्रव होकर आत्मा का दमन करता है, वह पाप-कर्म से लिप्त नहीं होता।

: १३

पुरिसा ! अत्ताणमेव अभिणिगिज्झ,

एवं दुक्खा पमुच्चसि ।

: १४ —आचारां

पढमं नाणं तओ दया एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ।

अन्नाणी किं काही किं वा नाहिइ सेय पावगं ॥

—दशवै

१५

सरीरमाहु नाव त्ति, जीवो वुच्चइ नाविओ ।

संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरन्ति महेसिणो ॥

—उत्तरा

१६ :

एगो अहमंसि न मे अत्थि कोइ न याहमवि कस्स वि ।

एवं से एगागिणमेव अप्पाणं समभिजाणिज्जा ॥—आचा

१३

मानव ! तू अपने आप को वश में कर । इस प्रकार तू दुःखों से छुटकारा पा सकेगा ।

१४

पहले ज्ञान है, पीछे दया—आचरण । इसी क्रम से सम्पूर्ण त्यागी वर्ग अपनी संयम-यात्रा में स्थिर रहा करता है । भला, अज्ञानी मनुष्य क्या संयम-साधना करेगा ? श्रेय तथा पाप का भेद कैसे जान सकेगा ?

१५

शरीर को नाव कहा है, आत्मा नाविक कहलाता है, संसार को समुद्र बतलाया है । इस संसार-समुद्र को महर्षि-जन पार करते हैं ।

१६

मैं अकेला हूँ । मेरा कोई नहीं है, और न मैं ही किसी का हूँ । इस प्रकार साधक अपने को अकेला ही समझे ।

३२

जरा जाव न पीडेइ, वाही जाव न वड्ढइ।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे॥

—दशवै०

३३

अद्धाणं जो महन्तं तु, अप्पाहेओ पवज्जइ।
गच्छन्तो सो दुही होइ, छुहा-तण्हाए पीडिओ॥

—उत्तरा०

३४

एवं धम्मं अकाऊणं, जो गच्छइ परं भवं।
गच्छन्तो सो दुही होइ, वाही रोगेहिं पीडिओ॥

—उत्तरा०

३५

अद्धाणं जो महन्तं तु, सपाहेओ पवज्जइ।
गच्छन्तो सो सुही होइ, छुहा-तण्हा विवज्जिओ॥

—उत्तरा०

१२

जब तक बुढ़ापा नहीं सताता, जब तक व्याधियाँ नहीं बढ़तीं, जब तक इन्द्रियाँ हीन, अशक्त नहीं होतीं तब तक धर्म का आचरण कर लेना चाहिए।

१३

जो पथिक बिना पाथेय लिए ही लम्बी यात्रा पर चल पड़ता है, वह आगे जाता हुआ भूख तथा प्यास से पीड़ित होकर अत्यंत दुःखी होता है।

१४

इसी प्रकार जो मनुष्य बिना धर्माचरण किये परलोक जाता है वह भी वहाँ नाना आधि-व्याधियों से पीड़ित होकर अत्यंत दुःखी होता है।

१५

जो पथिक लम्बी यात्रा में अपने साथ पाथेय लेकर चलता है, वह आगे चलकर भूख और प्यास से तनिक भी पीड़ित न होकर अत्यन्त सुखी होता है।

२६

एवं धम्मं पि काऊणं, जो गच्छइ परं भवं ।
गच्छन्तो सो सुही होइ, अप्पकम्मे अवेयणे ॥

—उत्त०

२७

जहा सागडिओ जाणं समं हिच्चा महापहं ।
विसमं मग्गमोइण्णो अक्खे भग्गम्मि सोयई ॥

—उत्त०

२८

एवं धम्मं विउक्कम्म अहम्मं पडिवज्जिया ।
बाले मच्चुमुहं पत्ते, अक्खे भग्गे व सोयइ ॥

—उत्त०

२९

जा जा वच्चइ रयणी न सा पडिनियत्तइ ।
अहम्मं कुणमाणस्स अफला जंति राइओ ॥

—उत्त०

२६

जो मनुष्य भली भाँति धर्माचरण करके परलोक जाता है वह वहाँ स्तुत्य तथा पाप-रहित होकर आनन्द सुखी होता है।

२७

जिस प्रकार मूर्ख गाड़ीवान जानता हुआ भी सपाट मार्ग को छोड़कर विषम मार्ग पर जाता है, और गाड़ी की धुरी टूट जाने पर शोक करता है—

२८

उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य भी धर्म को छोड़कर और अधर्म को ग्रहण कर, अन्त में मृत्यु के मुँह में पड़कर जीवन की धुरी टूटने पर शोक करता है।

२९

जो रात और दिन एक बार अतीत की ओर चले जाते वे कभी वापिस नहीं लौटते, जो मनुष्य अधर्म, पाप करता उसके वे रात दिन बिल्कुल निष्फल जाते हैं।

८०

[illegible] ।
[illegible] ॥

—उत्त०

८१

[illegible],
[illegible] ।

—प्रश्नव्याकरण

८२

[illegible]
[illegible] ।

—सूत्रकृतांग

८३

[illegible] ।
[illegible] ॥

—समवाय

ॐ

८५

जो भाषा कठोर हो, दूसरों को दुःख पहुँचाने वाली हो चाहे वह सत्य ही क्यों न हो, नहीं बोलनी चाहिए, क्योंकि उससे पाप का आगमन होता है।

८६

सत्य ही लोक में सार-तत्त्व है। यह महासमुद्र से भी अधिक गम्भीर है।

८७

सदा सत्य से सम्पन्न होकर विश्व के प्राणीमात्र के साथ मैत्री भाव रखे।

८८[1]

सत्य यश का मूल है, सत्य विश्वास का प्रधान कारण है, सत्य स्वर्ग का द्वार है, और सत्य ही सिद्धि का सोपान है।

अस्तेय

८९

चित्तमंतमचित्तं वा, अप्पं वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमित्तं पि, उग्गहंसि अजाइया॥

—दशवै०

९०

तं अप्पणा न गिण्हंति, नो वि गिण्हावए परं।
अन्नं वा गिण्हमाणं पि, नाणुजाणंति संजया॥

—दशवै०

९१

दंत-सोहण माइस्स, अदत्तस्स विवज्जणं।
अणवज्जेसणिज्जस्स, गिण्हणा अवि दुक्करं॥

—उत्तरा०



अस्तेय

८९

सचेतन पदार्थ या अचेतन, अल्प मूल्य पदार्थ हो या बहुमूल्य और तो क्या, दंत शोधन की सींक भी जिस गृहस्थ के अधिकार में हो उसकी आज्ञा लिए बिना—

९०

पूर्ण संयमी साधक न स्वयं ग्रहण करते हैं न दूसरों को ग्रहण करने के लिए प्रेरित करते हैं, और न ग्रहण करने वालों का अनुमोदन ही करते हैं।

९१

दांत कुरेदने की सींक आदि तुच्छ पदार्थ भी बिना दिए चोरी से न लेना, निर्दोष एवं एषणीय भोजन पान भी दाता के यहाँ से दिया हुआ ही लेना—यह बड़ी दुष्कर बात है।



ब्रह्मचर्य

६२

मूलमेयमहम्मस्स　　　महादोस-समुस्सय ।
तम्हा मेहुण-ससग्ग, निग्गथा वज्जयति ण ॥

—दशवै०

६३

विरई अबम्भचेरस्स, कामभोग-रसन्नुणा ।
उग्गाम महव्वय धर्म, धारेयव्व सुदुक्कर ॥

—दशवै०

६४

'आस च छद च विगिं च धीरे !
तुम चेव त सल्लमाहट्टु ।'

—आचाराग

ब्रह्मचर्य

६२

अ-ब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है, महा-दोषों का स्थान है। इसलिए निर्ग्रन्थ—मोक्ष-साधक मैथुन-संसर्ग का सर्वथा परित्याग करते हैं।

६३

काम-भोगों का रस न जान लेने वाले के लिए अ-ब्रह्मचर्य से विरत होना और ब्रह्मचर्य का महाव्रत धारण करना, बड़ा ही कठिन कार्य है।

६४

धीर पुरुष! भोगों की आशा तथा लालसा छोड़ दे! तू स्वयं इस काँटे को लेकर क्यों दुखी हो रहा है?

६५

कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स ।
जं काइयं माणसियं च किंचि,
तस्सन्तगं गच्छई वीयरागो ॥

—उत्तरा०

६६

अबंभचरियं घोरं पमायं दुरहिट्ठियं ।
नाऽऽयरंति मुणी लोए, भेयाययणवज्जिणो ॥

—दशवै०

६७

जे गुणे से आवट्टे
जे आवट्टे से गुणे ।

—आचारांग

६८

जहा कुम्मे सअंगाई सए देहे समाहरे ।
एवं पावाइं मेहावी अज्झप्पेण समाहरे ॥

—सूत्रकृतांग

६५

देवताओं सहित समस्त संसार के दुःखों का मूल एक मात्र काम भोगों की वासना ही है। काम भोगों के प्रति वीतराग—नि:स्पृह साधक शारीरिक तथा मानसिक सभी प्रकार के दुःखों से छूट जाता है।

६६

जो मानशील साधक संयम घातक दोषों से दूर रहते हैं, वे लोक में रहते हुए दुस्तर, प्रमाद-स्वरूप और भयंकर अब्रह्मचर्य का कभी सेवन नहीं करते।

६७

इन्द्रियों के विषय को ही संसार कहते हैं, और संसार ही इन्द्रियों का विषय है।

६८

जैसे कछुआ खतरे की जगह अपने अंगों को अपने शरीर में सिकोड़ लेता है, उसी प्रकार पंडित जन भी विषयाभिमुख इन्द्रियों को आत्म ज्ञान से सिकोड़ कर रखे।

९९

इणमेव नावकंखंति, जे जणा धुवचारिणो।
जाइ-मरणं परिन्नाय, चरे संकमणे दढे॥

—आचारांग

१००

कणकुंडगं चइत्ताणं, विट्ठं भुंजइ सूयरे।
एवं सीलं चइत्ताणं, दुस्सीले रमई मिए॥

—उत्तरा०

१०१

वत्थ-गंध-मलंकारं, इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति, न से चाइ त्ति वुच्चइ॥

—दशवै०

१०२

जे य कंते पिए भोए, लद्धे विपिट्ठिकुव्वई।
साहीणे चयइ भोए, से हु चाइ त्ति वुच्चइ॥

—दशवै०

९९

जो चारित्र पर दृढ़ रहते हैं व काम-भोगों की आकांक्षा नहीं रखते। इसलिए साधक को जन्म-मरण का स्वरूप जान कर संयम के मार्ग पर दृढ़ता के साथ विचरण करना चाहिए।

१००

जैसे शूकर धान्य-मिष्टान्न के थाल को छोड़कर विष्टा की ओर ही दौड़ता है उसी प्रकार अज्ञानी मनुष्य सदा चरण को छोड़कर दुराचरण में ही रमता है।

१०१

जो मनुष्य किसी पराधीनता के कारण वस्त्र गंध अलंकार आदि का उपभोग नहीं कर सकता, वह त्यागी नहीं कहला सकता।

१०२

जो मनुष्य सुन्दर और प्रिय भोगों को प्राप्त करके भी उनकी ओर से पीठ फेर लेता है सब प्रकार के स्वाधीन भोगों का परित्याग करता है, वही सच्चा त्यागी है।

१०३

देव दाणव-गन्धव्वा, जक्ख-रक्खस किन्नरा ।
बंभयारिं नमंसन्ति, दुक्करं जे करंति ते ॥

—उत्तरा०

१०४

एस धम्मे धुए णिच्चे, सासए जिण-देसिए ।
सिद्धा सिज्झंति चाणेणं, सिज्झिस्संति तहावरे ॥

—उत्तरा०



१०३

जो मनुष्य दुष्कर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता है, उसे देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर आदि सब नमस्कार करते हैं।

१०४

यह ब्रह्मचर्य धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत और जिनोपदिष्ट है। ब्रह्मचर्य की साधना से अतीत में अनन्त सिद्ध हो गये हैं, वर्तमान में हो रहे हैं, और भविष्य में होंगे।



अपरिग्रह

१०५

'नत्थि एरिसो पासो,
　　पडिबंधो अत्थि सव्व जीवाणं ।'

—प्रश्नव्याकरण

१०६

जे ममाइअमइं जहाइ से जहाइ ममाइअं ।
से हु दिट्ठभए मुणी जस्स नत्थि ममाइअं ॥

—आचारांग

१०७

न सो परिग्गहो वुत्तो नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो इइ वुत्तं महेसिणा ॥

—दशवै

१०८

लोहस्सेस अणुप्फासो मन्ने अन्नयरामवि ।
जे सिया सन्निहीकामे गिही पव्वइए न से ॥

—दशवै

अपरिग्रह

१०५

संसार के सब जीवों को जकड़ने वाले परिग्रह से बढ़कर कोई दूसरा बन्धन नहीं।

१०६

जो ममत्व-बुद्धि का परित्याग करता है वह ममत्व का त्याग करता है। वस्तुतः वही संसार-भीरु साधक है जिसे किसी प्रकार का ममत्व नहीं है।

१०७

दयालु ज्ञातपुत्र महावीर ने पदार्थों को परिग्रह नहीं कहा है। उन्होंने वास्तविक परिग्रह मूर्च्छा—आसक्ति को कहा है।

१०८

संग्रह करना भीतरी लोभ की झलक है। इसलिए जो साधु मर्यादा विरुद्ध कुछ भी संग्रह करना चाहता है, वह गृहस्थ है साधु नहीं।

१०९

धण धन्न पेसवग्गेसु, परिग्गह विवज्जणं ।
सव्वारंभ परिच्चाओ निम्ममत्तं सुदुक्करं ॥

—उत्तरा०

११०

सव्वत्थु वहिणा बुद्धा, संरक्खण परिग्गहे ।
अवि अप्पणो वि देहम्मि, नाऽऽयरंति ममाइयं ॥

—दशवै०

१११

'लोग वित्त च णं उवेहाए,
एए संगे अविजाणओ ।

—आचारांग

११२

जहा निव्विदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे
तहा चयइ संजोगं सब्भितर–बाहिरं ॥

—दशवै०

१०९

पूर्ण सत्य को धन धान्य और नौकर चाकर आदि सब प्रकार के परिग्रह का त्याग करना होता है। ममत्व पाप कर्मों को त्याग कर निर्ममत्व होना बड़ी ही कठिन बात है।

११०

ज्ञानी पुरुष संयम के साधन उपकरणों के लेने तथा रखने में कहीं किसी भी प्रकार का ममत्व नहीं रखते। और तो क्या, अपने शरीर तक पर भी ममता नहीं रखते।

१११

जीवात्मा ने आजतक जो भी दुःख परम्परा प्राप्त की है, वह सब पर पदार्थों के संयोग से ही प्राप्त हुई है। अतः संयोग सम्बन्ध का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए।

११२

जब व्यक्ति देव-मनुष्य सम्बन्धी समस्त भोगों से विरक्त हो जाता है तो वह बाहर और अन्दर के सब परिग्रह को छोड़ कर आत्म-साधना में जुट जाता है।

११३

थोवाहारो थोवभणिओ य जो होइ थोवनिद्दो य ।
थोवोवहि उवगरणो, तस्स हु देवा वि पणमंति ॥

—आवश्यक-निर्युक्ति

११४

जं पि वत्थं व पायं वा, कंबलं पायपुंछणं ।
जं पि संजम-लज्जट्ठा धारंति परिहरंति य ॥

—दशवै०



११३

जो साधक अल्पाहारी, अल्प भाषी, अल्प-शायी और अल्प-परिग्रही है, उसे देवता भी प्रणाम करते हैं।

११४

मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कंबल और रजोहरण आदि वस्तुएँ रखते हैं, वे सब एक-मात्र संयम-रक्षा के निमित्त हैं। उनके रखने में किसी प्रकार की परिग्रह-बुद्धि नहीं है।





कषाय–विजय

११५

कोहं च माणं च हणिया य वीरे ।
लोभस्स पासे निरयं महंतं ।

—आचारांग

११६

कोहं माणं च मायं च लोभं च पाववड्ढणं ।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छन्तो हियमप्पणो ॥

—दशवै०

११७

कोहो पीइं पणासेइ माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ॥

—दशवै०

११८

उवसमेण हणे कोहं माणं मद्दवया जिणे ।

कषाय विजय

११५

वीर ! क्रोध, मान आदि विकारों का नाश करो । लोभ भयंकर परिणामों पर विचार करो ।

११६

जो मनुष्य अपना हित चाहता है वह पाप बढ़ाने वाले ोध मान, माया और लोभ—इन चार दोषों को सदा के लिए छोड़ दे

११७

क्रोध प्रीति का नाश करता है मान विनय का नाश करता है माया मित्रता का नाश करती है और लोभ सभी सद्गुणों का नाश कर देता है ।

११८

शान्ति—क्षमा से क्रोध को मारे, नम्रता से अभिमान को जीते, सरलता से माया का नाश करे, और सन्तोष से लोभ को वश में करे ।

११९

रागो य दोसो वि कम्म-बीयं
कम्मं च जाइ-मरणं वयंति ।
कम्मं च जाइ मरणस्स मूलं
दुक्खं च जाइ-मरणं वयंति ॥
—उत्तरा०

१२०

अहे वयन्ति कोहेण माणेण अहमा गई ।
माया गई पडिग्घाओ लोहाओ दुहओ भयं ॥
—उत्तरा०

१२१

कोहो य माणो य अणिग्गहीया
माया य लोभो य पवड्ढमाणा ।
चत्तारि एए कसिणा कसाया
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥
—दशवै०

११९

राग और द्वेष ये दो कर्म के बीज हैं, अत कर्म का उत्पादक मोह माना गया है। संसार में जन्म मरण का मूल कर्म है, और जन्म मरण ही एक-मात्र दुःख है।

१२०

क्रोध से मनुष्य नीचे गिरता है मान से अधम गति पाता है माया से सद्गति का नाश होता है और लोभ से इस लोक तथा परलोक दोनों में महान् भय है।

१२१

अनिग्रहीत क्रोध और मान तथा बढ़ते हुए माया और लोभ—ये चारों ही कषाय पुनर्जन्मरूपी वृक्ष की जड़ों को सींचते रहते हैं।

। १२२ ।

सह-सल्लो जइ वि कट्ठुग्गं, घोर वीरं तवं चरे।
दिव्वं वाससहस्सं तत्तो वि तं तस्स निष्फलं॥

—महानिशीथ

। १२३

कोहं च माणं च तहेव मायं,
लोभं चउत्थं अज्झत्थदोसा।
एयाणि वंता अरहा महेसी,
न कुव्वइ पावं न कारवेइ॥

—सूत्रकृतांग



१२३

छल कपट करने वाला व्यक्ति चाहे देवताओं के ह
वर्षं तक भी घोर एवं उग्र तप करे, परन्तु अन्तर में श
होने से उसका यह सारा तप निष्फल है।

१२४

क्रोध, मान माया और लोभ—ये चार अन्तरा
के भयकर दोष हैं। इनका पूर्णतः त्याग करने वाले अह
महर्षि स्वयं पाप करते हैं, और न दूसरों से कराते है

ॐ

तृष्णा

१२४

पुढवी साली जवा चेव हिरण्णं पसुभिस्सह ।
पडिपुण्णं नालमेगस्स, इइ विज्जा तवं चरे ॥

—उत्तरा०

१२५

कसिणं पि जो इमं लोयं पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स ।
तेणावि से न संतुस्से, इइ दुप्पूरए इमे आया ॥

—उत्तरा०

१२६

सुवण्ण रुप्पस्स उ पव्वया भवे
सिया हु केलाससमा असंखया ।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणन्तिया ॥

—उत्तरा०

तृष्णा

१२४

चावल और जौ आदि धान्यों तथा सुवर्ण और पशुओं से परिपूर्ण यह समूची पृथ्वी भी लोभी को तृप्त नहीं कर सकती—यह जान कर संयम में रत होना चाहिए।

१२५

अनेक बहुमूल्य पदार्थों से भरपूर सारा विश्व भी किसी एक मनुष्य को दे दिया जाय, तो भी वह सन्तुष्ट न होगा। अहो! तृष्णा का गड्ढा दुष्पूर है।

१२६

कैलास के समान चाँदी और सोने के असंख्य पर्वत भी यदि पास में हों, तो भी तृष्णाशील व्यक्ति की तृप्ति के लिए वे नहीं के बराबर हैं। कारण, तृष्णा आकाश के समान अनन्त है।

१२७

जहा लाहो तहा लोहो लाहा लोहो पवड्ढई ।
दोमासकयं कज्जं, कोडीए वि न निट्ठियं ॥

—उत्तरा

१२८

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो
मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा ।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो,
लोहो हओ जस्स न किंचणाइं ॥

—उत्तरा०

१२९

भवतण्हा लया वुत्ता भीमा भीमफलोदया ।
तमुच्छित्तु जहानायं, विहरामि महामुणी ॥

—उत्तरा०



: १२७

ज्यों-ज्यों लाभ होता है त्यों-त्यों लोभ भी बढ़ता जाता है। देखिए, पहले केवल दो माशे सुवर्ण की इच्छा था, पर बाद में वह तृष्णा करोड़ों पर भी पूरी न हो सकी।

: १२८

जिस मोह नहीं, उसका दुःख दूर हो गया। जिसे तृष्णा नहीं, उसका मोह चला गया। जिसके लोभ नहीं, उसकी तृष्णा नष्ट हो गई और जिसके पास अर्थ संग्रह नहीं है, उसका लाभ दूर हो गया।

१२६

हे महामुने! संसार-तृष्णा एक भयंकर लता है जिसके फल भी बड़े भयकर हैं। मैं उस लता का उच्छेद करके सुख पूर्वक विचरण करता हूँ।



अप्रमाद

१२०

पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहावरं ।
तब्भावादेसओ वावि,बालं पंडियमेव वा ॥

१२१ —सूत्रकृताग

'धीरे ! मुहुत्तमवि णो पमायए
वओ अच्चेइ जोव्वणं च ।'

१२२ —आचाराग

दुमपत्तए पंडुयए जहा निवडइ राइगणाण अच्चए ।
एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम मा पमायए ॥

—उत्तरा०

१२३

कुसग्गे जह ओसबिंदुए थोवं चिट्ठइ लंबमाणए ।
एवं मणुयाण जीवियं समयं गोयम मा पमायए ॥

—उत्तरा०

अप्रमाद

१२०

प्रमाद को कर्म कहा है, और अप्रमाद को अकर्म। प्रमाद के होने या न होने से ही क्रमशः मूर्ख और पंडित कहलाता है।

१२१

धीर! एक मुहूर्त (क्षण) का भी प्रमाद न कर। है आयु बीत रही है, और यौवन ढल रहा है।

१२२

जैसे वृक्ष का पत्ता रात्रि-समूह बीत जाने के बाद पीला होकर गिर जाता है, वैसे ही मनुष्यों का जीवन भी आयु समाप्त होने पर सहसा नष्ट हो जाता है। इसलिए गौतम क्षण मात्र भी प्रमाद मत कर।

१२३

कुशा की नोक पर स्थित ओस की बूंद की तरह मानव जीवन भी क्षण भंगुर है इसलिए गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद मत कर।

१३८

तिण्णो हु सि अण्णवं महं, किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पारं गमित्तए, समयं गोयम मा पमायए॥

—उत्तरा०

१३९

सव्वओ पमत्तस्स भयं
सव्वओ अप्पमत्तस्स नत्थि भयं।

—आचारांग

१४०

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वाऽत्थि पलायणं।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया॥

—उत्तरा०

१४१

तं तह दुल्लहलंभं विज्जुलया-चंचलं माणुसत्तं।
लद्धूण जो पमायइ सो कापुरिसो न सप्पुरिसो॥

—आवश्यक मलयगिरि

१३८

तू विशाल संसार समुद्र को तैर चुका है, अब किनारे पर आकर क्यों अटक गया है? पतले पार जाने के लिए जितना हो सके जल्दी कर। गौतम! क्षण-मात्र भी प्रमाद मत कर।

१३९

जो व्यक्ति प्रमादी-गाफिल है उसे सदा भय है। अप्रमत्त और सतर्क रहने वाले के लिए कहीं भी भय नहीं।

१४०

जिसकी मृत्यु से मित्रता हो, जो भागकर मृत्यु से पिंड छुड़ा सकता हो अथवा जिसे यह निश्चय हो कि मैं मरूँगा नहीं—वही किसी सत्कर्म को कल पर छोड़ सकता है।

१४१

अति दुर्लभ तथा बिजली के समान चंचल मानव जन्म पाकर भी जो आत्म-साधना में प्रमाद करता है, वह कापुरुष (कायर) है सत्पुरुष नहीं।

१४२ ।

ण कल्ले पावन्नं, गुरेण अप्पेव परं काउं ।
मच्चू अकयन्नुण हियओ न हु गीमइ आवयंतोवि ।।

—बृहत्कल्प भाष्य

१४३

आगाढ नरा शिक्खं,
आगरमागम्म बहुंते बुद्धा ।'

—बृहत्कल्पभाष्य



१४२

मनुष्य ! तुझे जो सत्कर्म कल करना है, उसे आज ही कर लेना श्रेयस्कर है। मृत्यु बड़ी निर्दय है, उसके आने का कोई भरोसा नहीं।

१४३

मनुष्यो ! तुम अन्तर में हमेशा जागते रहो। जागरणशील मनुष्य का ज्ञान बढ़ता है, चमकता है।



विषयों का मीठा विष !

१४४

जहा य किंपागफला मणोरमा,
रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा ।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा,
एओवमा कामगुणा विवागे ॥
—उत्तरा०

१४५

जहा किंपाग-फलाणं, परिणामो न सुन्दरो ।
एवं भुत्ताण भोगाणं परिणामो न सुन्दरो ॥
—उत्तरा०

१४६

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।
कामे य पत्थेमाणा, अकामा जंति दोग्गइं ॥
—उत्तरा

विषयों का मीठा विष !

१४४

जैसे किपाक फल रूप-रंग और रस की दृष्टि से प्रारम्भ में खाते समय तो बड़े मधुर और मनोरम लगते हैं, पर बाद में जीवन के नाशक हैं, वैसे ही काम भोग भी शुरू में बड़े मीठे और मनोहर मालूम देते हैं, पर विपाक-काल में वे सर्वनाश कर देते हैं।

१४५

जैसे किपाक फलों का परिणाम अच्छा नहीं होता, उसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिणाम भी अच्छा नहीं होता।

१४६

काम भोग शल्य हैं, विष हैं और विषधर सर्प के समान हैं। काम भोगों की लालसा रखने वाले प्राणी उन्हें प्राप्त किये बिना अतृप्त दशा में ही दुर्गति को प्राप्त हो जाते हैं।

१४७

कामेसु गिद्धा णिचयं करंति
संसिच्चमाणा पुणरिंति गब्भं ।

—आचारांग

१४८

सुट्ठु वि मग्गिज्जंतो कत्थ वि केलीइ नत्थि जह सारो ।
इंदियविसएसु तहा नत्थि सुहं सुट्ठु वि गविट्ठं ॥

—भत्त परिण्णा

१४९

'कामा दुरतिक्कमा,
जीवियं दुप्पडिबूहगं ।

—आचारांग

१५०

... मत्ता कामेहिं उवरता पावकम्मेहिं
वीरे आयगुत्ते से ... खेयन्ने ।'

—आचारांग

१४७

काम भोगों में आसक्त प्राणी कर्मों का संचय करते हैं और कर्मों से भारी होकर संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं।

१४८

जैसे केले के स्तम्भ में खोजने पर भी कहीं सार नहीं मिलता इसी प्रकार इन्द्रिय विषयों के तरंगों में खूब खोज करके भी कहीं सुख नहीं देखा।

१४९

कामनाओं की पूर्ति होना कठिन है। जीवन बढ़ाया नहीं जा सकता।

१५०

जो कामनाओं में नहीं फँसता, पाप कर्मों से अलग रहता है, और आत्मा को पतन से बचाता है। वही वीर है, वही आत्मरक्षक है, और वही विद्वान् तथा निपुण है।

: १५१ :

'सतेमाणा पलेमाणा,
पुणो पुणो जाइं पकप्पंति।

—आचारांग

१५२

'जस्स नत्थि इमा जाइ
अण्णा तस्स कुओ सिया ?

—आचारांग

: १५३

उवलेवो होइ भोगेसु, अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे अभोगी विप्पमुच्चइ॥

—उत्तरा०

१५४

सव्वं विलवियं गीयं सव्वं नट्टं विडम्बियं।
सव्वे आभरणा भारा सव्वे कामा दुहावहा॥

—उत्तरा०

१५१

संसार के भोगों में फंसे रहने वाले लोग बार-बार जन्म-मरण प्राप्त करते रहते हैं।

१५२

जो साधक भोगों की आशा आकांक्षा नहीं रखता, वह साधक—संयमय प्रवृत्ति क्यों करेगा ?

१५३

जो मनुष्य भोगी है—भोगासक्त है, वही कर्म-मल से लिप्त होता है, अभोगी लिप्त नहीं होता। भोगी संसार में भ्रमण करता है, अभोगी संसार-बन्धन से मुक्त हो जाता है।

१५४

सब वैषयिक गान विलाप हैं, सब नाट्य रंग विडम्बना हैं, सब अलंकार शरीर पर बोझ हैं, अधिक क्या, संसार के जो भी काम-भोग हैं, वे सब-के-सब दुःखावह हैं।

१५५

न कामभोगा समयं उवेंति
न यावि भोगा विगई उवेंति।
जे तप्पओसी य परिग्गही य।
सो तेसु मोहा विगई उवेइ॥
—उत्तरा०

१५६

पुरिसो रम पावकम्मुणा, पलियंतं मणुयाण जीवियं।
सन्ना इह काम-मुच्छिया, मोहं जंति नरा असंवुडा॥
—सूत्रकृतांग

१५७

सु दुक्खा हु संतरो सत्ता कामेहि माणवा।
अबलेण वहं गच्छंति सरीरेण पभंगुरेण॥
—आचारांग

॥ १५५

काम भोग अपने-आप तो न किसी मनुष्य में समभाव पैदा करते हैं, और न किसी में विकृति ही पैदा करते हैं। जो काम-भोगों में राग-द्वेष के नाना संकल्प बनाता है, वही मोह से विकार-ग्रस्त हो जाता है।

॥ १५६

पुरुष ! मानव-जीवन क्षण भंगुर है, अत शीघ्र पाप-कर्म से विरत हो जा। संसार में आसक्त तथा काम-भोगों में मूर्छित असंयमी मनुष्य बार-बार मोह को प्राप्त होते रहते हैं।

१५७

संसारी जीव दुःखों से घिरे रहते हैं। फिर भी वे काम-भोगों में आसक्त बने रहते हैं। निःसार, क्षण-भंगुर शरीर के लिए पाप कर्म करके वे भयङ्कर दुःख पाते रहते हैं।

१५८

काम कामी खलु अयं पुरिसे,
से सोयइ, जूरइ तप्पइ परितप्पइ ।

—आचारांग

१५९

खणमेत्तसोक्खा बहुकालदुक्खा,
पगामदुक्खा अणिगामसोक्खा ।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया,
खाणीअणत्थाण उ कामभोगा ॥

—उत्तरा०



१५८

संसारी मनुष्य सदा कामनाओं की पूर्ति में उल रहता है। वह शोक करता है, खिन्न होता है, मर्यादा छ देता है, तथा परिताप करता है।

१५९

काम भोग क्षण-मात्र सुख देने वाले हैं, तो चि काल तक दुःख देने वाले। इन में सुख बहुत थोड़ा अत्यधिक दुःख ही दुःख है। मोक्ष-सुख के ये भय शत्रु हैं और अनर्थों की खान हैं।



विषयों का मीठा विष !

१४४

जहा य किंपागफला मणोरमा,
रसेण वण्णेण य भुज्जमाणा ।
ते खुड्डए जीविय पच्चमाणा,
एओवमा कामगुणा विवागे ॥

—उत्तरा०

१४५

जहा किंपाग-फलाणं परिणामो न सुन्दरो ।
एवं भुत्ताण भोगाणं परिणामो न सुन्दरो ॥

—उत्तरा०

१४६

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।
कामे य पत्थेमाणा, अकामा जंति दोग्गइं ॥

—उत्तरा०

विषयों का मीठा विष !

१४४

जैसे किंपाक फल रूप-रंग और रस की दृष्टि से प्रारम्भ में खाते समय तो बड़े मधुर और मनोरम लगते हैं, पर बाद में जीवन के नाशक हैं, वैसे ही काम-भोग भी शुरू में बड़े मीठे और मनोहर मालूम देते हैं, पर विपाक-काल में ये सर्वनाश कर देते हैं।

१४५

जैसे किंपाक फलों का परिणाम अच्छा नहीं होता, उसी प्रकार भोगे हुए भोगों का परिणाम भी अच्छा नहीं होता।

१४६

काम-भोग शल्य हैं, विष हैं और विषधर सर्प के समान हैं। काम भोगों की लालसा रखने वाले प्राणी उन्हें प्राप्त किये बिना अतृप्त दशा में ही दुर्गति को प्राप्त हो जाते हैं।

१७६

वेया अहीया न भवंति ताणं,
भुत्ता दिया निंति तमं तमेणं ।
जाया य पुत्ता न हवंति ताणं,
को नाम ते अणुमन्नेज्ज एयं ॥

—उत्तरा०

१७७ ः

चिच्चा दुपयं च चउप्पयं च,
खेत्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं ।
कम्मप्पबीओ अवसो पयाइ
परं भवं सुन्दर पावगं वा ॥

—उत्तरा०



१७६

पढ़े हुए वेद तेरा त्राण नहीं कर सकते, जिमाये हुए ब्राह्मण अन्धकार से अन्धकार में ले जाते हैं, तथा पैदा किए हुए पुत्र भी रक्षा नहीं कर सकते, ऐसी दशा में कौन विवेकी पुरुष इन्हें स्वीकार करेगा ?

१७७

द्विपद (दास-दासी) चतुष्पद (घोड़ा हाथी), क्षेत्र गृह और धन धान्य सब कुछ छोड़ कर विवशता की अवस्था में प्राणी अपने कृत कर्मों के साथ अच्छे या बुरे परभव को चला जाता है।



मान सम्मान

१७८

न बाहिरं परिभवे, अत्ताणं न समुक्कसे।
सुयलाभे न मज्जिज्जा, जच्चा तवंसि बुद्धिए॥

—दशवै०

१७९

अच्चणं रयणं चेव, वंदणं पूयणं तहा।
इड्ढी सक्कार सम्माणं मणसा वि न पत्थए॥

—उत्तरा०

१८०

पूयणट्ठा जसोकामी, माण-सम्माण कामए।
बहुं पसवई पावं मायासल्लं च कुव्वइ॥

—दशवै०

१८१

जस कित्ति सिलोगं च, जा य वंदण पूयणा।
सव्वलोयंसि जे कामा, तं विज्जं परिजाणिया॥

—सूत्रकृतांग

मान सम्मान

१७८

साधक को चाहिए कि दूसरे का पराभव—अपमान न करे, अपने को बड़ा न समझे, शास्त्र ज्ञान पाकर अभिमान न करे और जाति, तप, बुद्धि आदि का भी अहंकार न करे।

१७९

पूजा, अर्चना, वन्दना, नमस्कार, स्तुति, सत्कार और सम्मान—इनकी साधक मन से भी इच्छा न करे।

१८०

पूजा प्रशंसा की कामना तथा मान सम्मान की लालसा रखने वाला साधक बहुत पाप करता है, माया एवं दम्भ का सेवन करता है।

१८१

यश, कीर्ति, श्लाघा, वन्दन, पूजन तथा संसार के समस्त काम भोग—विद्वान् साधक इन सब को आत्म-घातक समझ कर इनका त्याग करे।

भिक्षु कौन ?

१८२

चत्तारि वमे सया कसाए,
धुवजोगी य हविज्ज बुद्ध-वयणे ।
अहणे निज्जायरूव-रयए,
गिहि-जोगं परिवज्जए जे स भिक्खू ॥–दशवै०

१८३

न जाइमत्ते न य रूवमत्ते,
न लाभमत्ते न सुएण मत्ते ।
मयाणि सव्वाणि विवज्जयंतो,
धम्म-ज्झाण-रए जे स भिक्खू ॥–दशवै

१८४

पवेयए अज्जपयं महामुणी,
धम्मे ठिओ ठावयई परं पि ।
निक्खम्म वज्जेज्ज कुसीललिंगं,
न यावि हासं कुहए जे स भिक्खू ॥–दशवै०

भिक्षु कौन ?

१८२

जो सदा क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार कषायों का परित्याग करता है, जो ज्ञानी पुरुषों के वचनों पर अटल विश्वासी है, जो चाँदी-सोना आदि किसी भी तरह का परिग्रह नहीं रखता, जो गृहस्थों से स्नेह-सूत्र नहीं जोड़ता, वही भिक्षु है।

१८३

जो जाति का अभिमान नहीं करता, जो रूप का अभिमान नहीं करता, जो लाभ का अहंकार नहीं रखता, जो पाण्डित्य का गर्व नहीं करता, जो सभी तरह के अहंभाव से विरत होकर केवल धर्मध्यान में ही रत रहता है, वही भिक्षु है।

१८४

जो महामुनि सद्धर्म का उपदेश करता है, स्वयं धर्म में स्थित होकर दूसरों को भी धर्म में स्थित करता है, घर-गृहस्थी के जंजाल से निकलकर सदा के लिए कुशील लिंग को छोड़ देता है, किसी के साथ हँसी-मजाक नहीं करता, वही भिक्षु है।

१८५

हत्थसंजए पायसंजए,
वायसंजए संजइंदिए।
अज्झप्परए सुसमाहिअप्पा,
सुत्तत्थं च वियाणइ जे स भिक्खू ॥—दशवै०

१८६

सम्मद्दिट्ठी सया अमूढे,
अत्थि हु नाणे तवे संजमे य।
तवसा धुणइ पुराण-पावगं,
मण-वय-काय सुसंवुडे जे स भिक्खू ॥—दशवै०

१८७

अभिभूय काएण परीसहाइं
समुद्धरे जाइपहाओ अप्पयं।
विइत्तु जाई-मरणं महब्भयं,
तवे रए सामणिए जे स भिक्खू ॥—दशवै०



१८५

जो हाथ पाँव वाणी और इन्द्रियों का पूर्ण संयम रखता है, जो अध्यात्म चिन्तन में ही रत रहता है, जो अपने आप को भली भाँति समाहित रखता है जो सूत्रार्थ का ज्ञाता है वही भिक्षु है।

१८६

जो सम्यग्दर्शी है जो कर्तव्य-मूढ नहीं है जो ज्ञान-तप और संयम का दृढ़ श्रद्धालु है जो मन-वचन-तन को पाप की ओर से रोककर रखता है, जो तप के द्वारा पूर्व-संचित पापों को नष्ट कर डालता है, वही भिक्षु है।

१८७

जो शरीर से परीषहों—कठिनाइयों को धैर्य पूर्वक सहन कर संसार-गत से अपना उद्धार कर लेता है, जो जन्म-मरण को महा भयंकर समझकर सदा श्रमणोचित तप में निरत रहता है वही भिक्षु है।



वैराग्य

१८८

कम्माणं तु पहाणाए, आणुपुव्वी कयाइ उ ।
जीवा सोहिमणुप्पत्ता, आययंति मणुस्सयं ॥

—उत्तरा०

१८९

सोही उज्जुयभूयस्स धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ ।
निव्वाणं परमं जाइ, घयसित्ते व पावए ॥

—उत्तरा०

१९०

जम्म दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य ।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतुणो ॥

—उत्तरा०

१९१

जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं सायं अणभिक्कन्तं च
खलु वयं संपेहाए, खणं जाणाहि पंडिए ।

—आचारांग

वैराग्य

१८८

जब पाप-कर्मों का वेग क्षीण होता है, और अन्तरात्मा क्रमशः शुद्धि को प्राप्त होता जाता है, तब कहीं मनुष्य जन्म मिलता है।

१८९

सरल आत्मा शुद्ध होती है, और शुद्ध आत्मा में ही धर्म ठहरता है। घृत सिंचित अग्नि की तरह प्रदीप्त शुद्ध साधक ही निर्वाण को प्राप्त करता है।

१९०

जन्म का दुःख है, जरा–बुढ़ापे का दुःख है रोग और मरण का दुःख है। अहो! सारा संसार दुःख-रूप ही है! यहाँ सब प्राणी दुःख की आग में जल रहे हैं।

१९१

पण्डित! सुख और दुःख प्रत्येक प्राणी को सहन पड़ते हैं, अब भी जीवन की घड़ियाँ शेष हैं—इस बात का विचार करके अवसर को पहचान। इस मत भूल।

१६२

माणुसत्ते असारम्मि वाहि-रोगाण आलए ।
जरा-मरण घत्थम्मि, खणं पि न रमामहं ॥

—उत्तरा०

१६३

असासए सरीरम्मि, रइं नोवलभामहं ।
पच्छा पुरा व चइयव्वे, फेणबुब्बुय-संनिभे ॥

—उत्तरा०

१६४

जीवियं चेव रूवं च विज्जुसंपाय-चंचलं ।
जत्थ तं मुज्झसि रायं पेच्चत्थं नावबुज्झसि ॥

—उत्तरा०

१६५

जो परिभवइ परं जणं, संसारे परिवत्तइ महं ।
अदु इंखिणिया उ पाविया, इति संखाय मुणी ण मज्जइ ॥

—सूत्रकृताङ्ग

१६२ -

मानव शरीर असार है, आधि-व्याधियों का घर है जरा और मरण स ग्रस्त है, अत मैं क्षण भर भी इसमें रहना नहीं चाहता।

१६३

यह शरीर पानी के बुलबुले के समान क्षण भंगुर है। पहले या पीछे एक दिन इसे छोड़ना ही है। अत इसके प्रति मेरी तनिक भी प्रीति—आसक्ति नहीं है।

१६४

मनुष्य का जीवन और रूप-सौन्दर्य बिजली की चमक की तरह चंचल है। राजन्। आश्चर्य है, फिर भी तुम इस पर मुग्ध हो रहे हो। परलोक की ओर क्यों नहीं निहारते।

१६५

जो मनुष्य दूसरे का तिरस्कार करता है, वह चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है। पर निन्दा पाप का कारण है, यह समझ कर साधक अहमात्र का पोषण नहीं करते।

१९६

जए सिया तेणु णो सिया
इच्चेव नारतुं भंति जे अत्ता मोह-पाउडा।'

—आचारांग

१९७

जह तुब्भे तह अम्हे तुम्हे वि होहिहा जहा अम्हे।
अप्पाहेइ पडंत, पंडुअ-पत्त किसलयाण॥

—अनुयोगद्वार

१९८

जावन्तऽविज्जा पुरिसा सव्वे ते दुक्ख-संभवा।
लुप्पंति बहुसो मूढा, संसारम्मि अणंतए॥

—उत्तरा०

१९९

जीविय नाभिकंखेज्जा, मरणं नो वि पत्थए।
दुहओ वि न सज्जेज्जा, जीविए मरणे तहा॥

—आचारांग

१६६

तुम जिनसे सुख की आशा रखते हो, वस्तुतः वे सुख के कारण नहीं हैं। मोह से घिरे हुए लोग इस बात को नहीं समझते।

१६७

पीला पत्ता जमीन पर पड़ता हुआ अपने साथी हरे पत्तों से कहता है—"आज जैसे तुम हो एक दिन हम भी ऐसे ही थे, और आज जैसे हम हैं, एक दिन तुम्हें भी ऐसा ही होना है।"

१६८

जितने भी अज्ञानी पुरुष हैं, वे सब दुःख के भागी हैं। सत् असत् के विवेक से शून्य वे इस अनन्त संसार में बार बार पीड़ित होते रहते हैं।

१६६

साधक न तो जीवित रहने की इच्छा करे और न शीघ्र मरना ही चाहे। जीवन तथा मरण किसी में भी आसक्ति न रखे।

२००

धीरेण वि मरियव्वं, काउरिसेण वि अवस्स मरियव्वं।
तम्हा अवस्स मरणे, वरं खु धीरत्तणे मरिउं ॥
—मरण-समाधि

२०१

लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा।
समो निंदा-पसंसासु तहा माणावमाणओ ॥
—उत्तरा०



२०७

धीर पुरुष को भी मरना है, और कायर पुरुष को भी अवश्य मरना है। जब मरण अनिवार्य है, तो धीर की प्रशस्त मौत से मरना ही बेहतर है।

२०१

सच्चा साधक लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, निन्दा-प्रशंसा और मान-अपमान में सम रहता है।



क्षमा

२०२

सव्वस्स जीवरासिस्स, भावओ धम्मनिहिअनिअचित्तो ।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥

—पंच प्रतिक्रमण

२०३

सव्वस्स समणसंघस्स भगवओ अंजलिं करिअ सीसे ।
सव्वं खमावइत्ता, खमामि सव्वस्स अहयं पि ॥

—पंचप्रतिक्रमण

२०४

आयरिय उवज्झाए, सीसे साहम्मिए कुल-गणे य ।
जे मे केइ कसाया सव्वे तिविहेण खामेमि ॥

—पंचप्रतिक्रमण

२०५

खामेमि सव्वजीवे सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूएसु वेरं मज्झं न केणइ ॥

* —पंचप्रतिक्रमण

क्षमा

२०२

धर्म में स्थिर चित्त होकर मैं सद्भावपूर्वक सब जीवों से अपने अपराधों की क्षमा चाहता हूँ और अपनी ओर से मैं भी उनके अपराधों को क्षमा करता हूँ।

२०३

मस्तक पर दोनों हाथ जोड़ कर समस्त पूज्य श्रमण संघ से मैं अपने सब अपराधों की क्षमा चाहता हूँ, और मैं भी उनके प्रति क्षमा भाव करता हूँ।

२०४

आचार्य उपाध्याय शिष्य साधर्मिक, कुल और गण, इनके ऊपर मैंने जो भी कषाय भाव किये हों, उन सब दुराचरणों की मैं तन-मन-वचन से क्षमा चाहता हूँ।

२०५ :

मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ। वे सब जीव भी मुझे क्षमा करें। मेरी सब जीवों के साथ मित्रता है किसी के साथ भी मेरा वैर-विरोध नहीं है। *

मोक्ष

२०६ ।

डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे ते अत्तओ पासइ सव्वलोए
उव्वेहई लोगमिणं महन्तं, बुद्धो पमत्तेसु परिव्वएज्जा
—सूत्रकृताग

२०७

'जे अणण्णारामे, से अणण्णदंसी ।'—आचारांग

२०८

'अरइं आउट्टे से मेहावि खणंसि मुक्के ।"—आचारां

२०९

'आयाणा निसिद्धा सगडब्भि ।'—आचारांग

मोक्ष

२०६

जो संसार के सब प्राणियों को आत्मवत् देखता है, संसार को अशाश्वत समझता है, और अप्रमत्त भाव से संयम में रत रहता है, वही मोक्ष का अधिकारी है।

२०७

जो साधक मोक्ष के अतिरिक्त कहीं रुचि नहीं रखता, वही अचल श्रद्धा वाला माना गया है।

२०८

जो साधक अरति को दूर करता है, वह क्षण भर में मुक्त हो जाता है।

२०६

भारी कर्मों का आश्रव रोकने वाला साधक पूर्व संचित कर्मों का भी क्षय कर देता है।

२१०

पच्छा वि ते पयाया, खिप्पं गच्छन्ति अमर भवणाइं ।
जेसिं पिओ तवो संजमो य, खंती य बंभचेरं च ॥
—दशवै०

२११

नाणं च दंसणं चेव चरित्तं च तवो तहा ।
एस मग्गु त्ति पण्णत्तो, जिणेहि वरदंसिहिं ॥
—उत्तरा०

२१२

नाणेण जाणई भावे, दंसणेण य सद्दहे ।
चरित्तेण निगिण्हाइ, तवेण परिसुज्झई ॥
—उत्तरा०

२१३

विगिंच कम्मुणो हेउं जसं संचिणु खंतिए ।
सरीरं पाढवं हिच्चा, उड्ढं पक्कमई दिसं ॥—उत्तरा०

२१०

जो ढलती हुई उम्र में भी संयम के मार्ग पर चल पड़ते हैं और तप, संयम क्षमा तथा ब्रह्मचर्य को प्रिय समझ कर उनमें रमण करते हैं वे भी अमरत्व को प्राप्त हो जाते हैं

२११

सत्यदर्शी ज्ञानियों ने ज्ञान, दर्शन चारित्र और तप को ही मोक्ष का मार्ग बतलाया है।

२१२

साधक ज्ञान से जीवन-तत्त्वों को जानता है, दर्शन से उनका श्रद्धान करता है, चारित्र के द्वारा उन्हें ग्रहण करता है, और तप से परिशुद्ध होता है।

२१३

कर्म-बंध के कारणों को ढूँढो—उनका छेदन करो, और फिर क्षमा आदि के द्वारा अक्षय यश का संचय करो। साधक पार्थिव शरीर को छोड़कर सद्गति प्राप्त करता है।

२१४

नादंसणिस्स नाणं नाणेण विणा न हुंति चरणगुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ॥
—उत्तरा०

२१५

सुबहुं पि सुयमहीयं किं काही चरण विप्पहीणस्स ।
अंधस्स जह पलित्ता, दीवसयसहस्स कोडी वि ॥
—विशेषावश्यक०

२१६

को दुक्खं पाविज्जा, कस्स य सुक्खेहिं विम्हओ हुज्जा ।
को या न लभिज्ज मुक्खं, रागद्दोसा जइ न हुज्जा ॥
—मरण-समाधि

२१७

विणयाहीया विज्जा,
देंति फलं इह परे य लोगम्मि ।—बृहत्कल्प भाष्य

२१४

श्रद्धा हीन को ज्ञान नहीं होता, ज्ञान हीन को आचरण नहीं होता, आचरण हीन को मोक्ष नहीं मिलता, और मोक्ष पाये बिना निर्वाण—पूर्ण शान्ति नहीं मिलती ।

: २१५ :

आचरण-हीन पुरुष को ढेरों शास्त्रों का ज्ञान भी कुछ लाभ नहीं पहुँचा सकता। क्या लाखों करोड़ों जलते हुए दीपक अन्धे को देखने में सहायक हो सकते हैं?

२१६

यदि राग-द्वेष न हों, तो संसार में न कोई दुःख पाये और न कोई सुख पाकर विस्मित हो हो, प्रत्युत सब मुक्त हो जायँ।

२१७

विनय भाव से सीखा हुआ ज्ञान इस लोक और पर लोक दोनों जगह फलदायी होता है।

२१८

जया संवरमुक्किट्ठं धम्मं फासे अणुत्तरं ।
तया धुणइ कम्मरयं, अबोहि कलुसं कडं ॥

—दशवै०

२१९

जया जोगे निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जइ ।
तया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइ नीरओ ॥

—दशवै०

२२०

जया कम्मं खवित्ताणं, सिद्धिं गच्छइ नीरओ ।
तया लोग-मत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासओ ॥

—दशवै०

卐

२१८

जब साधक उत्कृष्ट एवं अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है, तब आत्मा पर से अज्ञान कालिमा-जन्य कर्म-रज को झाड़ देता है।

२१९

जब मन वचन और शरीर के योगों का निरोध कर आत्मा शैलेशी अवस्था को पाती है—पूर्णतः स्पन्दन-रहित हो जाती है तब कर्मों का क्षय कर सर्वथा मल-रहित होकर सिद्धि (मोक्ष) को प्राप्त होता है

२२०

जब आत्मा समस्त कर्मों को क्षय कर, सर्वथा मल रहित होकर सिद्धि [मोक्ष] को पा लेती है, तब लोक के अग्रभाग पर स्थित होकर सदा के लिए सिद्ध हो जाता है।

卐